ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-4.5
Vol.-3; Issue-1 (Jan.-March) 2026
Page No.- 472-479
©2026 Gyanvividha
DOI :-10.71037/gyanvividha.v3i1.59
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

प्रशांत कुमार सिंह
शोधार्थी, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय), प्रयागराज, उत्तर प्रदेश.

Corresponding Author :

प्रशांत कुमार सिंह
शोधार्थी, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय), प्रयागराज, उत्तर प्रदेश.

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी साहित्य में वैश्वीकरण और सांस्कृतिक संकट

सारांश : इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में भारतीय समाज और संस्कृति ने वैश्वीकरण, उदारीकरण और बाज़ारवाद के प्रभाव स्वरूप एक अभूतपूर्व और आमूलचूल परिवर्तन का अनुभव किया है। प्रस्तुत शोध-पत्र समकालीन हिन्दी साहित्य, विशेषकर इक्कीसवीं सदी के कथा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में वैश्वीकरण द्वारा उत्पन्न सांस्कृतिक संकट, मूल्य-क्षरण और सामाजिक विखंडन का गहन आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जहाँ एक ओर वैश्वीकरण ने विश्व को तकनीकी और आर्थिक स्तर पर निकट लाते हुए एक 'वैश्विक ग्राम' में तब्दील कर दिया है, वहीं दूसरी ओर इसने भारतीय समाज में उपभोक्तावाद, महानगरीय अजनबीपन, पारिवारिक विघटन, आदिवासी विस्थापन और नैतिक पतन जैसी गंभीर समस्याओं को जन्म दिया है। यह शोध-पत्र काशीनाथ सिंह के 'रेहन पर रग्घू', रणेंद्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता', प्रदीप सौरभ के 'मुन्नी मोबाइल', और उदय प्रकाश की प्रमुख कथा-रचनाओं के माध्यम से इस बात की पड़ताल करता है कि समकालीन साहित्य किस प्रकार नव-पूंजीवादी शक्तियों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के नव-उपनिवेशवाद और तकनीकी विस्तार के कारण हाशिए पर धकेले जा रहे मानव मूल्यों और अस्मिताओं का प्रामाणिक दस्तावेज़ बन गया है। इसके अतिरिक्त, यह अध्ययन वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी भाषा के बदलते स्वरूप, 'हिंग्लिश' के उद्भव, स्त्री-विमर्श की नई दिशाओं, और वैश्विक पटल पर हिन्दी साहित्य की नई चुनौतियों व अवसरों का भी सांगोपांग विवेचन करता है।

मुख्य शब्द : वैश्वीकरण, सांस्कृतिक संकट, बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, नव-उपनिवेशवाद, आदिवासी विमर्श, पीढ़ीगत द्वंद्व, विस्थापन, समकालीन हिन्दी साहित्य, अस्मिता का संकट।

1. प्रस्तावना : वैश्वीकरण का स्वरूप और साहित्य से उसका अंतर्संबंध : बीसवीं सदी के अंतिम दशक, विशेषकर 1991 के आर्थिक सुधारों के पश्चात्, भारत में वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों का विधिवत प्रवेश हुआ। इन नीतियों ने केवल भारतीय अर्थव्यवस्था को ही

विश्व बाज़ार के लिए नहीं खोला, अपितु भारतीय समाज, संस्कृति, चिंतन और दैनिक जीवन-शैली को भी अत्यंत गहराई से प्रभावित किया। वैश्वीकरण मूलतः एक ऐसी व्यापक प्रक्रिया है जिसका मुख्य उद्देश्य दुनिया की विविध अर्थव्यवस्थाओं को समन्वित करके पूँजी, श्रम, सेवा और प्रौद्योगिकी का अबाध आदान-प्रदान सुनिश्चित करना है। इसके परिणामस्वरूप संपूर्ण विश्व एक 'विश्व बाज़ार' में तब्दील हो गया है, जहाँ दूरियाँ तो मिटी हैं, परंतु आर्थिक गैर-बराबरी और सांस्कृतिक संक्रमण तीव्र हुआ है (सिंह, 2021, पृ. 15)।

साहित्य सदैव अपने समय के यथार्थ का प्रामाणिक मुकुर रहा है। इक्कीसवीं सदी का हिन्दी साहित्य इस बात का साक्षी है कि वैश्वीकरण ने जहाँ मनुष्य को भौतिक संसाधन और तकनीकी सुविधाएँ प्रदान की हैं, वहीं इसने मनुष्य को उसकी सांस्कृतिक जड़ों, सामुदायिक जीवन और शाश्वत मानवीय संवेदनाओं से भी काट दिया है। साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में यह स्पष्ट किया है कि पूँजीवादी सोच से संचालित सभ्यता के विकास में मनुष्यता को जोड़े रखने वाले समरसता के तमाम ज़रूरी मूल्य, सिद्धान्त, मनोभाव और विचार हाशिए पर सरका दिए गए हैं (खेतान, 2020, पृ. 58)।

यह सांस्कृतिक संकट कोई आकस्मिक या स्वाभाविक घटना नहीं है, बल्कि यह नव-उपनिवेशवाद का एक सोचा-समझा परिणाम है। जहाँ पहले साम्राज्यवाद सैन्य शक्ति के बल पर भौगोलिक सीमाओं पर कब्ज़ा करता था, वहीं आज का वैश्वीकरण बहुराष्ट्रीय कंपनियों, मीडिया और उपभोक्तावादी संस्कृति के माध्यम से मनुष्य के मन, उसकी भाषा और उसकी संस्कृति पर आधिपत्य स्थापित कर रहा है। समकालीन हिन्दी साहित्य—विशेषकर उपन्यास और कहानी विधा—इस सांस्कृतिक संकट के प्रति गहरी चिंता व्यक्त करता है तथा नव-साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिरोध की एक नई वैचारिक ज़मीन तैयार करता है (वर्मा, 2023)।

2. वैश्वीकरण और सांस्कृतिक संकट की सैद्धांतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : सांस्कृतिक संकट की अवधारणा को समग्रता में समझने के लिए भारतीय संस्कृति के मूल स्वभाव और वैश्वीकरण द्वारा थोपी जा रही बाज़ारू संस्कृति के बीच के अंतर्विरोध का विश्लेषण आवश्यक है। प्राचीन काल से ही भारत में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की अवधारणा रही है, जो संपूर्ण दुनिया को ही एक परिवार मानने की भावना पर आधारित थी। यह भावना मानव के शाश्वत मूल्यों, सहिष्णुता और समन्वय से प्रेरित थी (सिंह, 2025, पृ. 16)। इसके विपरीत, वर्तमान भूमंडलीकरण का लक्ष्य सार्वभौमीकरण, मुनाफ़ाखोरी और एकाधिकार है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसने विश्व को एक बाज़ार और मनुष्य को केवल एक 'उपभोक्ता' में संकुचित कर दिया है।

प्रख्यात आलोचक पुष्पपाल सिंह ने वैश्वीकरण की इस प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वैश्वीकरण वास्तव में 'अमेरिकीकरण' का ही एक नवीन रूप है। यह एक ऐसी कूटनीति है जो सारे राष्ट्रों की स्थानिक संस्कृति और जातीय चेतना को पूरी तरह निगल कर अपने रंग में रंग डालने का प्रयास करती है, और आज पूरा विश्व इसकी चपेट में आ चुका है (सिंह, 2012, पृ. 7)।

इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का सांस्कृतिक चिंतन अत्यंत प्रासंगिक हो उठता है। द्विवेदी जी संस्कृति को किसी संकीर्ण धार्मिक या जातीय दृष्टि से नहीं देखते, बल्कि उसे मानवता, सहिष्णुता और समन्वय की एक निरंतर प्रवहमान नदी मानते हैं। आज जब वैश्वीकरण के दौर में तकनीकी विकास के बीच मानवीय संवेदनाएँ कमज़ोर पड़ रही हैं और सांस्कृतिक अस्मिता का संकट उत्पन्न हो रहा है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि मनुष्य अपनी जड़ों से जुड़े रहते हुए आधुनिकता को अपनाए (द्विवेदी, 2023)। वैश्वीकरण के आर्थिक पक्ष से उपभोक्तावाद गहरे स्तर पर जुड़ा हुआ है। इस उपभोक्तावाद ने समाज में वर्ग-भेद, आर्थिक असमानता और एक प्रकार का 'सांस्कृतिक प्रदूषण' पैदा किया है। बहुराष्ट्रीय अनुदानों और परियोजनाओं के माध्यम से संस्कृति को मनचाहा मोड़ दिया जा रहा है, जिससे नशे की संस्कृति, डिस्को संस्कृति और उपभोक्तावादी उच्छृंखलता जैसी विकृतियाँ पनप रही हैं (शर्मा, 2013)।

3. समकालीन हिन्दी उपन्यासों में वैश्वीकरण और सांस्कृतिक संकट का यथार्थ : इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों ने समाज के अत्यंत सूक्ष्म संवेदन, गहराई और विस्तार में जाकर देश, समाज और व्यक्ति पर पड़ने वाले वैश्वीकरण के प्रभावों का कथात्मक धरातल पर प्रामाणिक अध्ययन किया है। साहित्यकारों ने उन अंतर्विरोधों को उभारा है जो महानगरीय चकाचौंध और हाशिए पर धकेले गए यथार्थ के बीच पनप रहे हैं।

3.1 'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह): ग्रामीण विस्थापन, पीढ़ीगत द्वंद्व और टूटते मूल्य : साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' वैश्वीकरण के दौर में बदलते जीवन मूल्यों, ग्रामीण जीवन के विखंडन, शहरीकरण, और मानवीय संबंधों के क्रमिक पतन का एक उत्कृष्ट आलोचनात्मक दस्तावेज़ है। यह उपन्यास उत्तर-औपनिवेशिक दौर की जटिल और भूमंडलीकृत दुनिया का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है, जहाँ आत्मीय संबंध बाज़ार और उपयोगिता के हवाले हो चुके हैं (सिंह, 2014, पृ. 3)।

पीढ़ीगत द्वंद्व और संबंधों का व्यवसायीकरण : उपन्यास का मुख्य पात्र प्रोफेसर रघुनाथ (रग्घू) उस पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है जो गाँव, मिट्टी और मानवीय संवेदनाओं से गहराई से जुड़ी है। दूसरी ओर, उनकी युवा पीढ़ी—जिसका प्रतिनिधित्व उनके बेटे संजय, धनंजय और बेटी सरला करते हैं—डॉलर, महानगरों की चकाचौंध और भौतिक सुख-सुविधाओं की अंधी दौड़ में शामिल है। रघुनाथ ने अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए अपने खेत गिरवी (रेहन) रख दिए और कॉलेज से ऋण लिया, इस उम्मीद में कि वृद्धावस्था में वे उनका सहारा बनेंगे (सिंह, 2016, पृ. 21)। परंतु, वैश्वीकरण की आंधी में ये संबंध उपयोगिता की तराजू पर तौले जाने लगे हैं। रघुनाथ का बड़ा बेटा संजय अमेरिका के कैलिफ़ोर्निया में बस जाता है, छोटा बेटा धनंजय नोएडा में पढ़ाई के बहाने एक महिला के साथ 'सहजीवन' में रहता है, और बेटी सरला अपनी मर्जी से जीवन जीती है।

इस विघटन से उत्पन्न वेदना को व्यक्त करते हुए रघुनाथ अपनी पत्नी शीला से कहते हैं : "शीला हमारे तीन बच्चे हैं, लेकिन पता नहीं क्यों, कभी-कभी मेरे भीतर ऐसी हूक उठती है जैसे लगता है मेरी औरत बांझ है और मैं निःसंतान पिता हूँ! माँ और पिता होने का सुख नहीं जाना हमने! हमने ना बेटे की शादी देखी, ना बेटी की! ... हम ऐसे अभागे माँ-बाप हैं जिसे उनका बेटा अपने विवाह की सूचना देता है, और बेटी धौंस देती है कि इजाजत नहीं दोगे तो न्योता नहीं दूँगी।" (सिंह, 2016, पृ. 89)।

प्रकृति, ग्रामीण पारिस्थितिकी और महानगरीय संस्कृति का द्वंद्व : वैश्वीकरण ने केवल शहरों को ही नहीं, बल्कि गाँवों की पारिस्थितिकी और भौतिक स्वरूप को भी लील लिया है। उपन्यास में 'पहाड़पुर' गाँव का दृश्य पूरी तरह बदल चुका है। जिन जगहों पर कभी बगीचों, बंसवार और पोखर का सौंदर्य था, जहाँ चिड़ियों की चहचहाहट, गायों-भैंसों के रंभाने और बैलों की घंटियों की आवाज़ें गूँजती थीं, वहाँ अब पेड़ कट गए हैं और पोखर धान के खंडों में बँट गई है। गाँव में फ्रिज, टीवी, बिजली और फ़ोन जैसी उपभोक्तावादी वस्तुएँ तो आ गई हैं, लेकिन जीवन का पारंपरिक रस और ग्रामीण आनंद सूख चुका है (सिंह, 2016, पृ. 61, 104)। कृषि का मशीनीकरण होने से बैलों को 'फालतू और बोझ' माना जाने लगा है तथा गोबर की जगह रासायनिक खाद (यूरिया) ने ले ली है (सिंह, 2021)।

रघुनाथ नई पीढ़ी के डॉलर-प्रेम पर गहरा प्रहार करते हुए भूमि की महत्ता को रेखांकित करते हैं। वे अपने बच्चों से कहते हैं कि मनुष्य करोड़ों कमा सकता है, लेकिन रुपया और डॉलर खाया नहीं जा सकता। ज़मीन ही असली महतारी (माता) है, जिसके दूध से चावल, गेहूँ, दाल और पानी प्राप्त होता है (सिंह, 2016, पृ. 85)। यह वक्तव्य आधुनिकता के उस खोखलेपन को उजागर करता है जहाँ प्रकृति को महज़ एक लाभ का संसाधन मान लिया गया है।

जातिगत समीकरणों का टूटना और सामाजिक संकट : वैश्वीकरण ने सदियों पुराने सामाजिक और जातिगत ढाँचों में भी उथल-पुथल मचाई है। उपन्यास में रघुनाथ की बेटी सरला, भारी दहेज की मांग से तंग आकर, मिर्जापुर के एक दलित (चमार जाति के) अधिकारी सुदेश भारती से विवाह करने का निर्णय लेती है। इस निर्णय से रघुनाथ के मन में सदियों पुराना सामाजिक संकोच और ऊँच-नीच का संकट गहरा जाता है। उन्हें यह विचार व्यथित करता है कि जो

गनपत जीवन भर उनके यहाँ हल जोतता रहा और ज़मीन पर बैठता रहा, वह अब उनका रिश्तेदार बनेगा, और गनपत का बाप खरपत उनका समधी बनकर दामाद के बाप की हैसियत से उनके साथ खटिया पर बैठेगा (सिंह, 2016, पृ. 69)।

3.2 'ग्लोबल गाँव के देवता' (रणेंद्र): नव-साम्राज्यवाद, आदिवासी विमर्श और पारिस्थितिकीय विध्वंस : रणेंद्र का चर्चित उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' वैश्वीकरण के उस स्याह और क्रूर चेहरे को उजागर करता है, जहाँ विकास और औद्योगीकरण के नाम पर आदिवासियों के जल, जंगल और ज़मीन को निर्ममता से लूटा जा रहा है। यह उपन्यास झारखंड के 'असुर' आदिवासी समुदाय की पीड़ा, उनके अस्तित्व रक्षा और उनके ऐतिहासिक विस्थापन का एक संतप्त दस्तावेज़ है (रणेंद्र, 2010)।

'ग्लोबल गाँव के देवता' का प्रतीकार्थ : उपन्यास का शीर्षक अपने आप में एक गहरा और कटु व्यंग्य है। प्राचीन काल (वैदिक युग) में असुरों का संघर्ष देवराज इंद्र और उनके देवताओं से था, लेकिन इक्कीसवीं सदी के इस भूमंडलीकृत 'वैश्विक गाँव' में नए देवता पैदा हो गए हैं—विदेशी और देशी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, भ्रष्ट नौकरशाह, राजनेता और व्यापारिक घराने। ये आधुनिक देवता खनन के नाम पर प्राकृतिक संपदा की निर्मम लूट कर रहे हैं (रणेंद्र, 2010, पृ. 3)।

असुर संस्कृति का विनाश और विस्थापन : झारखंड का 'असुर' समुदाय—जो तीन उपवर्गों (बीर असुर, अगरिया असुर, और वरजिया असुर) में विभाजित है—वह समुदाय है जिसने मानव सभ्यता के विकास में धातु (लोहा) गलाने और आग का ऐतिहासिक आविष्कार किया था। लेकिन वैश्वीकरण की आंधी और विदेशी एवं देशी कंपनियों (जैसे टाटा) के आगमन ने उनके पारंपरिक लोहे गलाने और औज़ार बनाने के शिल्प को पूरी तरह नष्ट कर दिया। उपन्यासकार इसे इतिहास में असुर जाति की सबसे बड़ी हार मानता है (रणेंद्र, 2010)। रुमझुम नामक पात्रा के माध्यम से लेखक मानव विज्ञान की किताबों में असुरों की रूढ़िवादी, बर्बर और नरभक्षी दैत्यों वाली छवि का खंडन करता है और उन्हें एक सहज, प्रकृति-प्रेमी और सुंदर समुदाय के रूप में स्थापित करता है (रणेंद्र, 2010, पृ. 2-3)।

पारिस्थितिकी तंत्र का विनाश और स्वास्थ्य संकट : विकास की अंधी दौड़ ने झारखंड के पारिस्थितिकी तंत्र को तहस-नहस कर दिया है। खदानों से बॉक्साइट निकालकर खुले छोड़ दिए गए बड़े-बड़े गड्ढे धरती माँ के चेहरे पर चेचक के धब्बों की तरह लगते हैं। बारिश में इन गड्ढों में पानी भर जाता है, जिससे मलेरिया जैसी भयंकर महामारियाँ फैलती हैं। डॉ. मुण्डा के संवादों के माध्यम से लेखक स्पष्ट करता है कि प्रदूषित स्वर्णरेखा नदी के किनारे रहने वाले ग्रामीणों में कुष्ठ रोग तेज़ी से फैल रहा है, खदानों के मज़दूर क्षय रोग का शिकार हो रहे हैं, और जादूगोड़ा इलाके में फैले रेडियोधर्मी कचरे ने आदिवासियों की आने वाली पीढ़ियों को ही विकलांग बना दिया है (रणेंद्र, 2010, पृ. 3)।

शोषण का बहुआयामी रूप : आदिवासियों को उनकी ही ज़मीन से बेदखल कर दिया गया है। भूख और गरीबी ने इस समुदाय को इस कदर घेर लिया है कि दाल-भात और सब्ज़ी उनके लिए पर्व-त्यौहार का भोजन बन चुका है। इस समुदाय की युवतियाँ खदान मालिकों, नौकरशाहों, ठेकेदारों और ज़मींदारों की वासना का खिलौना (रखैल) बनने पर विवश हैं (रणेंद्र, 2010, पृ. 14)। वैश्वीकरण ने आदिवासियों के सम्मुख सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक अस्मिता का ऐसा संकट खड़ा कर दिया है कि उनकी कई जनजातियाँ विलुप्त होने की कगार पर पहुँच गई हैं।

3.3 'मुन्नी मोबाइल' (प्रदीप सौरभ): हाशिए का समाज, तकनीक का प्रवेश और नैतिक क्षरण : प्रदीप सौरभ द्वारा रचित उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' (2009) बीसवीं सदी के अंतिम और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के सामाजिक परिवर्तनों, उपभोक्तावाद, और तकनीकी क्रांति के समाजशास्त्रीय प्रभावों का एक अत्यंत प्रामाणिक आख्यान है। यह उपन्यास दिल्ली से सटे साहिबाबाद की मलिन बस्तियों के भूगोल पर आधारित है, जहाँ भारत के विभिन्न कोनों से विस्थापित होकर आए लोग आजीविका की तलाश में रहते हैं। इस समाज की व्यवस्था का आधार आज भी जाति ही है, जिसके आधार पर शक्ति समीकरण तय होते हैं (सौरभ, 2009)।

तकनीक का प्रवेश और सशक्तिकरण का भ्रम : उपन्यास की नायिका बिंदु यादव (मुन्नी) एक साधारण, अनपढ़ घरेलू नौकरानी है जो भूमंडलीकृत संस्कृति के संपर्क में आकर एक दबंग और महत्वाकांक्षी महिला में बदल जाती है। वैश्वीकरण और बाज़ारवाद के प्रतीक के रूप में 'मोबाइल फोन' उसके जीवन में क्रांति लाता है। तकनीकी माध्यम से उसे एक नई पहचान मिलती है, जिससे उसका नाम ही 'मुन्नी मोबाइल' पड़ जाता है। वह अन्य बेरोजगार औरतों को काम दिलाने वाली 'ठेकेदार' बन जाती है (सौरभ, 2009)।

उपभोक्तावाद, चारित्रिक पतन और अनैतिकता : किंतु, उपभोक्तावादी संस्कृति की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि वह मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं को बेलगाम हवस में बदल देती है। मुन्नी की अतिरिक्त पैसा कमाने की अंधाधुंध चाहत उसे अनैतिक रास्तों पर ले जाती है। बाज़ार की चकाचौंध और प्रदर्शन की लालसा में वह अंततः एक देह-व्यापार की संचालिका (दलाल) बन जाती है। यह कृत्य उसे उसके पति और दोनों बेटों से विमुख कर देता है और अंततः उसकी निर्मम हत्या का कारण बनता है। उसकी मृत्यु के बाद उसकी बेटी रेखा भी उसी राह पर चलकर देह-व्यापार का संचालन करती है और मुखबिर बन जाती है (सौरभ, 2009)।

आनंदी भारती नामक पत्रकार पात्र के दृष्टिकोण से लेखक समाज के इस पतन को विश्लेषित करता है। यह उपन्यास स्पष्ट करता है कि पूँजीवादी युग में केवल पूँजी ही प्रधान है। 'मुन्नी मोबाइल' यह रेखांकित करता है कि कैसे वैश्वीकरण और नव-उदारवाद हाशिए की महिलाओं को सशक्तिकरण का भ्रम देकर उनका नैतिक और सांस्कृतिक पतन कर देते हैं, जिससे पूरा समाज अपराध और अनैतिकता की गर्त में धकेल दिया जाता है (सौरभ, 2009)।

3.4 स्त्री विमर्श और वैश्वीकरण: स्वायत्तता बनाम बाज़ार की वस्तु : वैश्वीकरण के दौर में स्त्री के अस्तित्व और उसकी सामाजिक भूमिका में एक द्वंद्वात्मक परिवर्तन आया है। एक ओर जहाँ आर्थिक उदारीकरण ने स्त्रियों को घर की चारदीवारी से निकालकर उन्हें आर्थिक स्वावलंबन और आत्मनिर्णय का अधिकार दिया है, वहीं दूसरी ओर उपभोक्तावादी संस्कृति ने उसे बाज़ार की एक आकर्षक 'वस्तु' में भी तब्दील कर दिया है (खेतान, 2020)। मीडिया और विज्ञापन जगत में स्त्री देह का जिस तरह व्यवसायीकरण हुआ है, वह सांस्कृतिक संकट का एक घिनौना रूप है।

समकालीन लेखिकाओं ने इस द्वंद्व को अपनी रचनाओं में बड़ी मुखरता से उकेरा है। प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' की पात्रा प्रिया समाज के गंदे नियमों से लड़ने की प्रेरणा देती है और मानती है कि आँसू औरत को कमज़ोर बना देते हैं; सहानुभूति प्यार का विकल्प नहीं हो सकती (खेतान, 2020)। इसी प्रकार, मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' एक विशेष पिछड़ी जाति की स्त्रियों के संघर्ष की कथा है। चित्रा मुद्गल का 'आवां' एक स्वावलंबी स्त्री की कहानी है जो बचपन में बलात्कार का शिकार होने के बावजूद जीवन में संघर्ष कर आगे बढ़ती है। शरद सिंह का 'पिछले पन्ने की औरतें' बेड़नी जनजाति की उन स्त्रियों की व्यथा है जो आज भी अपनी देह का सौदा करने के लिए विवश हैं (सिंह, 2023)। ये रचनाएँ वैश्वीकरण के उस दोहरे मापदंड को उजागर करती हैं जहाँ एक तरफ आधुनिकता का ढोंग है, तो दूसरी तरफ देह-व्यापार और पितृसत्ता का क्रूर यथार्थ।

4. हिन्दी कहानी में उत्तर-आधुनिकता और उपभोक्तावाद: उदय प्रकाश के विशेष संदर्भ में : समकालीन हिन्दी कहानीकारों में उदय प्रकाश का नाम अग्रणी है, जिन्होंने भूमंडलीकरण, उदारीकरण, और उपभोक्तावादी संस्कृति से उपजी विसंगतियों, उत्तर-आधुनिकता और महानगरीय क्रूरता का अत्यंत पैना और विद्रूप चित्रण किया है।

'पीली छतरी वाली लड़की' : पूँजीवाद का अमानवीय चेहरा उदय प्रकाश का उपन्यास/लंबी कहानी 'पीली छतरी वाली लड़की' उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्प्रभावों को दर्शाने वाली एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें लेखक ने वैश्वीकरण और स्थानीयकरण के टकराव को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि भारत ने पश्चिम से उपभोक्तावाद, हथियार और हिंसा तो ग्रहण कर ली, लेकिन स्वतंत्रता, बराबरी और मानवीय गरिमा जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों को नहीं अपनाया। इस कहानी में पूँजीवाद का मानवीकरण एक ऐसे मोटे, भोगी व्यक्ति के रूप में किया गया है जो बार-बार प्रधानमंत्री से 'देश खरीदने' की बात करता है। यह इस बात का प्रतीक है कि पूँजी

अब केवल आर्थिक नहीं, बल्कि समूचे राष्ट्र, सत्ता और मानवीय संवेदना की नियंत्रक बन चुकी है (प्रकाश, 2009, पृ. 90)।

बाज़ार की सर्वव्यापकता और संबंधों का विद्रूपीकरण : अपनी कहानी 'पॉल गोमरा का स्कूटर' में उदय प्रकाश लिखते हैं कि बाज़ार अब सभी चीज़ों का विकल्प बन चुका है। शहर, गाँव, और कस्बे बड़ी तेज़ी से बाज़ार में बदल रहे हैं और हर घर एक दुकान में तब्दील हो रहा है। जो व्यक्ति इस बाज़ार की शर्तों पर 'अनुकूल' नहीं बैठता, उसे समाज और परिवार द्वारा हाशिए पर धकेल दिया जाता है (प्रकाश, 2004, पृ. 37)।

आर्थिक संकट और उपभोक्तावादी लालसाओं के चलते मनुष्य अनैतिक समझौते करने पर विवश है। 'हत्या' कहानी में रमन्ना मेहतर की औरत मात्र पाँच रुपये के नोट के लिए अनैतिक स्पर्श स्वीकार करते हुए खिलखिलाती है। 'मैंगोसिल' कहानी में उत्तर-आधुनिक यौन-लीला और देह के बाज़ारीकरण का वीभत्स वर्णन है। विज्ञापनों द्वारा बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ किस प्रकार भ्रमित करती हैं, इसे उदय प्रकाश की कथा-दृष्टि बख़ूबी पकड़ती है। 'पूँछ में पटाखा' जैसी लघुकथाओं के माध्यम से उन्होंने मध्यवर्ग की दयनीय और विडंबनापूर्ण स्थिति का सटीक चित्रण किया है (प्रकाश, 2020, पृ. 75)।

सारणी 1: समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य में वैश्वीकरण और सांस्कृतिक संकट के विविध रूप

कृतियों का नाम	रचनाकार	मुख्य विमर्श/विषय	सांस्कृतिक संकट का स्वरूप एवं प्रभाव
रेहन पर रग्घू	काशीनाथ सिंह	पारिवारिक विघटन, पीढ़ीगत द्वंद्व	जीवन मूल्यों का ध्वंस, ग्रामीण पारिस्थितिकी का विनाश, जातिगत समीकरणों का टूटना, रिश्तों का व्यवसायीकरण।
ग्लोबल गाँव के देवता	रणेंद्र	आदिवासी विमर्श, नव-साम्राज्यवाद	जल-जंगल-ज़मीन की लूट, बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा शोषण, पारंपरिक शिल्प का खात्मा, महामारियाँ और देह-शोषण।
मुन्नी मोबाइल	प्रदीप सौरभ	हाशिए का समाज, तकनीकी क्रांति	उपभोक्तावाद, पैसे की अंधी हवस, चारित्रिक पतन, देह-व्यापार, और महानगरीय मलिन बस्तियों का अपराध।
पीली छतरी वाली लड़की	उदय प्रकाश	पूँजीवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति	पश्चिमीकरण बनाम स्थानीयता, मानवीय गरिमा का पतन, सत्ता का पूँजीकरण, और बाज़ार की सर्वव्यापकता।

5. भाषाई संकट: वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी का बदलता स्वरूप और 'हिंग्लिश' का उदय : वैश्वीकरण ने न केवल समाज और संस्कृति को, बल्कि विचार और अभिव्यक्ति के मूल माध्यम यानी 'भाषा' को भी गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। इक्कीसवीं सदी में हिन्दी का भाषाई परिदृश्य दो विपरीत ध्रुवों—संकट और विस्तार—पर खड़ा दिखाई देता है।

भाषाई पतन और 'हिंग्लिश' का वर्चस्व : वैश्वीकरण के दौर में वैश्विक स्तर पर अंग्रेज़ी भाषा का वर्चस्व स्थापित हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी भाषा की शुद्धता और उसकी सांस्कृतिक गहराई पर गंभीर कुठाराघात हुआ है। व्यापारिक जगत, बहुराष्ट्रीय कंपनियों और बाज़ार की आवश्यकताओं ने एक मिश्रित भाषा को जन्म दिया है जिसे 'हिंग्लिश' कहा जाता है (शर्मा, 2025)। विज्ञापन, मीडिया, और सोशल मीडिया की भाषा के रूप में हिन्दी का जो नया स्वरूप उभरा है, वह अपनी मौलिकता और सांस्कृतिक स्मृतियों से कटता जा रहा है। भाषा केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं होती; वह एक जीवित प्रत्यय होती है जिसमें उस समाज का संपूर्ण जीवन और संस्कार धड़कता है। आदमी की भाषा को छीनना या उसे बाज़ार के अनुसार विकृत करना भी सांस्कृतिक संकट का ही एक स्पष्ट रूप है (शर्मा,

2013)। बाज़ार के दबाव में हिन्दी साहित्य में अंग्रेज़ी के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग तेज़ी से बढ़ा है, जो भाषाई पहचान के संकट को गहरा करता है (मिश्र, 2023)।

तकनीकी विस्तार और वैश्विक मंच पर हिन्दी की उपस्थिति : इन नकारात्मक प्रभावों के बावजूद, यह भी सत्य है कि वैश्वीकरण ने हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए अपार संभावनाओं के द्वार खोले हैं। डिजिटल मंचों, वेब माध्यमों, इंटरनेट और सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में हिन्दी की मांग अभूतपूर्व रूप से बढ़ी है (कुमार, 2021)। आज हिन्दी विश्व के 93 से अधिक देशों में बोली, पढ़ी और समझी जाने वाली एक शक्तिशाली अंतरराष्ट्रीय भाषा बन चुकी है। फ़ीजी जैसे देशों में तो हिन्दी को राजभाषा का सम्मान प्राप्त है (कुमार, 2021)।

साहित्यिक दृष्टि से देखा जाए तो डिजिटल क्रांति ने हिन्दी साहित्य को नए दर्शकों और वैश्विक पाठकों तक पहुँचने का सशक्त माध्यम प्रदान किया है। हिन्दी साहित्य के अनुवाद की मांग में भारी वृद्धि हुई है, जिससे अंतर-सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बढ़ावा मिला है (मिश्र, 2023)। प्रवासी साहित्य का एक नया युग प्रारंभ हुआ है, जो भारतीय संस्कृति और वैश्विक यथार्थ के बीच एक सेतु का कार्य कर रहा है। यह सिद्ध करता है कि हिन्दी एक वैज्ञानिक, समृद्ध और गतिशील भाषा है जो विश्व बाज़ार की चुनौतियों का सामना करने में पूर्णतः सक्षम है (शर्मा, 2025)।

6. हिन्दी आलोचना का संकट और प्रतिरोध की संस्कृति : समकालीन हिन्दी साहित्य केवल वैश्वीकरण और सांस्कृतिक संकट का मूक दर्शक या शोक-गीत गाने वाला माध्यम नहीं है; यह एक सशक्त आलोचनात्मक उपकरण और 'प्रतिरोध की संस्कृति' का सशक्त वाहक भी है।

आलोचना के क्षेत्र में डॉ. नामवर सिंह जैसे विचारकों का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। नामवर सिंह ऐतिहासिक जरूरत को समझते हुए मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय आलोचना पर बल देते हैं। उनका मानना है कि किसी भी स्तर पर प्रक्षिप्त स्थूल समाजशास्त्रीयता से मुक्त हुए बिना साहित्य का सही मूल्यांकन मुमकिन नहीं है। वे शास्त्र और लोक के बीच के द्वंद्व को भारतीय इतिहास और साहित्य का मुख्य अंतर्विरोध मानते हैं (सिंह, 2018)। आज हिन्दी आलोचना के समक्ष भी संकट है। आलोचना का दायरा कमतर और अविश्वसनीय हुआ है, और आलोचकों को भी निगरानी और बाज़ारवाद के दबावों का सामना करना पड़ रहा है (अवस्थी, 2023)।

परंतु, समकालीन कथाकारों और कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस यथास्थितिवाद को तोड़ा है। दलित और आदिवासी कहानीकारों ने जातिगत शोषण, सामाजिक बहिष्कार, और विस्थापन को अपनी रचनाओं के केंद्र में लाकर मुख्यधारा साहित्य की सीमाओं को चुनौती दी है और साहित्य को अधिक लोकतांत्रिक बनाया है (यादव, 2020)। साहित्य यह याद दिलाता है कि पूँजीवाद केवल संसाधनों को ही नहीं लूटता, बल्कि यह मनुष्य की संवेदनाओं और स्मृतियों को भी कुंद कर देता है। साहित्य इन्हीं स्मृतियों को बचाने का, और पाश की कविता की तरह 'सपनों के मर जाने' के विरुद्ध खड़ा होने का एक रचनात्मक और साहसिक प्रयास है (सिंह, 2016)।

7. निष्कर्ष : समग्र विवेचन के उपरांत यह निष्कर्ष निकलता है कि इक्कीसवीं सदी के हिन्दी साहित्य में वैश्वीकरण और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट का अत्यंत सूक्ष्म, व्यापक और बहुआयामी चित्रण हुआ है। वैश्वीकरण ने भारतीय समाज के सम्मुख आर्थिक प्रगति और तकनीकी विकास के नए द्वार अवश्य खोले हैं, परंतु इसने एक ऐसी उपभोक्तावादी और बाज़ार-केंद्रित संस्कृति को भी थोपा है जिसने मानवीय मूल्यों, पारिवारिक संस्थाओं, पारिस्थितिकी, और हाशिए के समाजों की अस्मिता को गहरे संकट में डाल दिया है।

काशीनाथ सिंह का 'रेहन पर रग्घू' हमें टूटते मानवीय रिश्तों, ग्रामीण जीवन के विखंडन और अंधी आधुनिकता के दुष्परिणामों से सचेत करता है; रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' नव-साम्राज्यवाद द्वारा आदिवासियों के निर्मम शोषण, उनकी संस्कृति के विनाश और स्वास्थ्य संकट का प्रामाणिक आईना दिखाता है; प्रदीप सौरभ का 'मुन्नी मोबाइल' तकनीकी क्रांति के बीच खोखली होती नैतिकता, चारित्रिक पतन और महानगरीय अपराध की त्रासदी है;

तथा उदय प्रकाश की रचनाएँ पूँजीवाद की क्रूरतम परिणतियों और बाज़ारवाद के समक्ष मनुष्य के बौनेपन से हमारा साक्षात्कार कराती हैं। इसी प्रकार, स्त्री-विमर्श की लेखिकाओं ने वैश्वीकरण में स्त्री की देह के बाज़ारीकरण का पुरज़ोर विरोध किया है।

सांस्कृतिक संकट का यह दौर इस बात की स्पष्ट मांग करता है कि हम आधुनिकता, तकनीकी प्रगति और वैश्वीकरण के उन सकारात्मक पहलुओं को तो ग्रहण करें जो मानवीय समानता, ज्ञान के प्रसार और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ावा देते हैं, परंतु 'उपभोक्तावाद', 'अंधी अनुकरण वृत्ति' और 'सांस्कृतिक प्रदूषण' का दृढ़ता से परित्याग करें। हिन्दी साहित्य आज अपनी इसी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ज़िम्मेदारी का निर्वहन कर रहा है। वह केवल वैश्वीकरण से उत्पन्न विसंगतियों का दस्तावेज़ीकरण ही नहीं कर रहा, बल्कि अपनी जड़ों की ओर लौटने, मानवीय संवेदनाओं को पुनर्जीवित करने और एक न्यायपूर्ण, समतामूलक विश्व-व्यवस्था की स्थापना के लिए वैचारिक संघर्ष भी कर रहा है। बाज़ार के सर्वग्रासी अतिक्रमण से मनुष्यता, भाषा और संस्कृति को बचाने के लिए यह साहित्यिक प्रतिरोध ही हमारी सभ्यता के भविष्य का एकमात्र मार्ग प्रशस्त करेगा।

सन्दर्भ सूची :

1. अहमद, सगीर. (2026). वैश्वीकरण और सांस्कृतिक संकट के संदर्भ में रामचरितमानस की प्रासंगिकता. हिंदी जर्नल, 12(1).
2. अवस्थी, देवीशंकर. (2023). आलोचना का संकट. समालोचन.
3. कुमार, अरुण. (2021). वैश्वीकरण के युग में हिंदी भाषा व भविष्य में हिंदी भाषा का विस्तार. एस. डी. कॉलेज शोध पत्रिका.
4. खेतान, प्रभा. (2020). वैश्वीकरण और हिन्दी उपन्यास. शोध पत्र. ऑल रिसर्च जर्नल, 6(9).
5. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (2023). भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य. यूट्यूब आलेख संदर्भ.
6. प्रकाश, उदय. (2004). पॉल गोमरा का स्कूटर. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
7. प्रकाश, उदय. (2009). पीली छतरी वाली लड़की. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
8. प्रकाश, उदय. (2020). मैंगोसिल. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
9. मिश्र. (2023). वैश्वीकरण और हिन्दी साहित्य. शोध पत्र. आई.ए.जे.ई.एस.एम.
10. रणेंद्र. (2010). ग्लोबल गाँव के देवता. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
11. शर्मा, रामविलास. (2013). भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
12. शर्मा. (2025). वैश्वीकरण और हिन्दी साहित्य का विकास. कंटेंट पीडब्ल्यूसी आर्काइव.
13. सिंह, अरुण कुमार. (2025). वैश्विक मूल्य और वैश्वीकरण. बोहल शोध मंजूषा, 22(2).
14. सिंह, काशीनाथ. (2016). रेहन पर रग्घू. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
15. सिंह, पुष्पपाल. (2012). भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास. राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली.
16. सिंह, नामवर. (2018). इतिहास और आलोचना. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
17. सिंह. (2023). वैश्वीकरण के दौर में हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका और भाषाई परिदृश्य. शिक्षा संवाद.
18. सौरभ, प्रदीप. (2009). मुन्नी मोबाइल. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
19. यादव, जितेंद्र. (2020). समकालीन किसान केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक स्वर. मल्टीसब्जेक्ट जर्नल.

•